

# बदल रही हैं फिल्में

विनोद तिवारी\*

मुंबई के फिल्म उद्योग में एक उदाहरण कभी मजाक के तौर पर तो कभी गंभीर चिंतन के दौर में एक सी तीव्रता के साथ दिया जाता है जिसकी शुरुआत एक सवाल से होती है, 'टाइटेनिक' जैसा भव्य, विशाल और सुदृढ़ जहाज आखिर डूब कैसे गया?

इसका जवाब इसके सिवा भला और क्या हो सकता है कि वह आइसबर्ग से टकरा गया था। लेकिन फिल्म जगत की गतिविधियों पर नजर रखने वाले इसकी वजह कुछ और बताते हैं, 'जहाज के चालकों ने आइसबर्ग तो देख लिया था किंतु विशालकाय होने के कारण जहाज तब अपनी दिशा बदल नहीं सकता था।'

दुनिया भर में सबसे ज्यादा फिल्में बनाने वाले भारतीय फिल्म उद्योग के बारे में भी एक समय यही धारणा थी -- यह फार्मूला फिल्में बनाने की अपनी दिशा बदल नहीं सकता। इस धारणा के पीछे वजह बताई जाती थी पूरे हिन्दुस्तान की जनता का एक ही समय पर मनोरंजन करना जबकि स्वस्थ मनोरंजन के मानदंड देश के विभिन्न भागों में अलग-अलग हैं। इसलिये 'रूटलेस' होना मुंबईया फिल्मों की मजबूरी है और लगभग एक सी परिस्थिति तथा 'प्रिडिक्टबल टर्निंग पॉइंट्स' के कारण पैदा होने वाले असफलता के खतरे के बावजूद निर्माता निर्देशक दिशा बदलने में असमर्थ रहते हैं।

टाइटेनिक की भव्यता और विशाल काया के निर्माण का आधार थी यात्रियों की वह विशाल संख्या जिसका सम्बल जहाज उद्योग को मिला हुआ था। ऐसा नहीं कि हिंदी फिल्म जगत के निर्माता निर्देशक यह जानते समझते नहीं थे कि दोहराव का जो जोखिम वे लेकर चले रहे हैं, वह ऐसी रपटीली रफतार है जिसमें मुँह के बल गिरने का खतरा बराबर बना रहता है। इसके बावजूद उसी राह पर चलने के दुस्साहस के पीछे कहीं यह विश्वास भी काम कर रहा था कि आप अपना चुटकुला उतनी बार नया कह कर सुनाते रह सकते हैं जितनी बार आपके श्रोता उसे सुन कर हँसते रहे। इस बात को मशहूर निर्माता निर्देशक स्व. मनमोहन देसाई के उदाहरण से

बेहतर समझा जा सकता है। उनकी फिल्मों में बचपन में भाइयों के बिछुड़ जाने और फिर फिल्म के अंत को सुखद बनाने के लिए उनके पुनः मिले जाने का फार्मूला बखूबी अपनाया गया है। इसकी वजह पूछने पर उनका जवाब होता, 'जब दर्शक मेरी एक ही कहानी को देख कर हर बार खुश होकर लौटता है तो मुझे नयी कहानी के साथ नया प्रयोग करने की क्या जरूरत है?'

## बदलाव का वाहक तो दर्शक है

स्पष्ट है कि उनका जवाब यही कह रहा था कि बदलना तो दर्शक को है, मुझे नहीं। जब फिल्मों का विशाल दर्शक वर्ग बदलाव चाहेगा, मुझे नया विषय देना ही पड़ेगा। अपना जीवनकाल तो वे अपनी धारणा के बल पर निकाल ले गये लेकिन उनके अनेक समकालीन दोहराव का आइसबर्ग देखते रहने के बावजूद दिशा नहीं बदल सके और नतीजा वही हुआ जो होना था -- वे फिल्मी अर्थतंत्र के महासागर में समा गये। फिल्मों के बदलते परिवेश में आज स्थिति यह है कि फिल्मों के वे पंडित सकपकाये हुए हैं, जो कल तक यह कहते नहीं थकते थे कि फिल्मों के लिये तो एक ही कहानी शाश्वत है -- रामायण। एक हीरो (राम), एक हीरोइन (सीता) और एक विलन (रावण) तथा सारे दुखों के बाद सुखांत।

सुप्रसिद्ध साहित्यकार तथा फिल्म लेखक डॉ. राही मासूम राजा फिल्मों को साहित्य की ही एक विधा मानते थे। उनका कहना था कि जो साहित्य समाज को कोई दिशा प्रदान नहीं करता उसे साहित्य माना ही नहीं जा सकता। इसी तरह जो फिल्म समाज को कोई स्वस्थ संदेश नहीं देती उसे सही सिनेमा में शुमार नहीं किया जाना चाहिये। यह धारणा दो तरह के प्रश्नों को जन्म देती है। एक फिल्मों का उद्देश्य क्या है? मनोरंजन या समाज सुधार? दूसरा मनोरंजन किसे माने? राह चलता आदमी केले के छिलके पर पैर पड़ जाने से फिसल कर अचानक गिर पड़ता है तो क्या देखने वालों के लिये उसे मनोरंजन मानना उचित है? मनोरंजन से जुड़े सवाल का

\*वरिष्ठ फिल्म पत्रकार

जवाब हिन्दी फिल्म उद्योग के जनक स्व. दादा साहब फालके ने पहली भारतीय फिल्म 'राजा हरिश्चन्द्र' में बखूबी दे दिया था। इस फिल्म की बहुश्रुत, बहुपठित कहानी जीवन के उतार चढ़ावों का मनोरंजक चित्रण तो कराती ही है, सत्य और कर्तव्यनिष्ठा की चिरजीवी मिशाल भी पेश करती है। भारतीय जनमानस में घर कर कर चुके जो भी कथानक हैं, वे धार्मिक हों, ऐतिहासिक हो या साहित्यिक उनमें मनोरंजन के पक्ष को कभी नकारा नहीं गया है। मनोरंजन कैसा हो, फिल्म के संदर्भ में यह फैसला निर्देशक के विवेक पर निर्भर करता है। जिस निर्देशक की नजर में फिल्म का अर्थ दर्शक को तीन घंटे किसी स्वप्नलोक में विचरण कराते रहने का था, उसे दीन दुनिया में दुखों से दूर ले जाने का था, उसने सामाजिक सरोकारों का छौंके तक लगाने को अनावश्यक माना और नायिका को नदी नहलाने के साथ 'पानी में जले मेरा गोरा बदन' जैसे गीत संगीत का सहारा लिया, प्रेम कहानी के साथ कॉमेडी का ट्रैक जोड़ा, कोट टाई और सोला हैट के साथ पैंट पहनना भूल जाने वाले कॉमेडियन को हीरो का दोस्त बनाया जो घर की जवान नौकरानी के साथ इश्क फरमाता था।

## सिक्के का दूसरा पहलू

यह सब सिक्के का एक पहलू है। बोलती फिल्मों के प्रारंभिक दौर से ही सिनेमा को समृद्ध बनाया उन निर्देशकों ने जिनके मन में इस माध्यम की शक्ति और प्रभाव का अहसास प्रबल था और जो यह जानते थे कि सिनेमा से आम दर्शक को किस तरह के मनोरंजन की अपेक्षा रहती है। वे यह जानते थे कि अगर उनकी फिल्में सामाजिक सरोकारों से जुड़ी हुई न हों तो उनकी रचनात्मक प्रतिभा का कोई अर्थ नहीं और न ही सजग दर्शक उनकी फिल्म देखने सिनेमा घर तक आएगा। इसलिये उन्होंने मनोरंजन के इस माध्यम को समास्याओं, कुरीतियों, और कुप्रथाओं पर प्रहार के साथ जोड़ना आवश्यक समझा।

सुप्रसिद्ध निर्माता निर्देशक वी. शांताराम इसके सबल उदाहरण हैं। 'पड़ोसी' हो या 'दो आँखें बारह हाथ' मनोरंजन के साथ कथ्य इस तरह उभर कर दर्शक के दिल दिमाग तक उतर जाता था कि वह वाह वाह कर उठे। उनके बाद के दशकों के वे भी सभी निर्देशक जिनका नाम फिल्म इतिहास में स्वर्ण अक्षरों में लिखा हुआ है -- चेतन आनंद, बिमल रॉय, गुरूदत्त, राजकपूर, बी.आर. चोपड़ा, हषिकेश मुखर्जी, गुलजार सबने मनोरंजन को नये आयाम दिये लेकिन अपनी शर्तों पर और सुधि दर्शकों ने उन्हें सदा सराहा। 'हकीकत' हो या

'बरसात', 'खूबसूरत' हो या 'आँधी', 'बावर्ची' हो या 'वक्त' फिल्म क्या कह रही है यह उस दर्शक को बताने की जरूरत नहीं पड़ी जो अगर फिल्म देखने अकेला आता हो हँसता हँसता घर लौटता और फिर से फिल्म देखने सपरिवार वापस लौट आता था।

सिनेमा द्वारा स्वस्थ मनोरंजन के सुनहरे दौर को जिन फेर बदल का ग्रहण लगा, उनमें उन फिल्मों की सफलता भी शामिल है जिन्होंने निर्माता, निर्देशकों और कलाकारों को नाम और दाम दोनों प्रदान किये। फिल्म निर्माण के कलापक्ष से अनभिज्ञ लेकिन उसकी व्यापारिक सफलता से चकाचौंध वे लोग इसकी तरफ आकृष्ट होने लगे, जिन्होंने तमाम तरह के अवैध तरीकों से अपार पूँजी एकत्रित कर ली थी। फिल्मों की सफलता उनके लिये इस अवैध धन को वैध कर लेने का सुगम तरीका था। इन लोगों का फिल्म निर्माण से कुछ लेना देना नहीं था। वे कथ्य, प्रतीक, कैमरा एंगल, लाइटिंग किसी से भी परिचित नहीं थे, लेकिन उनके मन में यह विश्वास सुदृढ़ था कि पैसे से सब कुछ खरीदा जा सकता है। इसलिये फिल्म निर्माता की जगह फिल्म व्यापारी प्रमुख हो गया और उसने व्यापार का गुरु 'जो बिकता है बेंचो' को फिल्म कला का मूल मंत्र बना दिया। यह धारणा तो इस देश में आज भी है कि सबसे आसानी से सैक्स बिकता है। मनोरंजन के नाम पर और क्या क्या बिक सकता है इसके प्रयोगों में विदेशी लोकेशंस, उन लोकेशंस में बिकिनी बालाएं, वॉटर स्पोर्ट्स, खतरनाक स्टंट, भव्य भारतीय शादियाँ (इंडियन मैरिज), विदेशों में बसे पहचान के संकट से परेशान भारतीय... क्या कुछ नहीं भुनाया जा रहा है।

मनोरंजन की भूख प्रबल होने के बाद बावजूद भारतीय फिल्म दर्शकों ने फिल्म निर्माण के हर मोड़ पर यह स्पष्ट किया है कि उन्हें मजबूर समझ कर कुछ भी परोस देने की गलती न की जाए, निर्माता का हित इसी में है। समय के साथ बदलते हुए उन्होंने मद्रास से आने वाली संयुक्त परिवार की वकालत करती फिल्में स्वीकार कीं, पुनर्जन्म की परिकल्पना, मुस्लिम सोशल, पशुप्रेम, भाग्य और संयोग, देश प्रेम, कर्तव्य परायणता, मातृभक्ति.. जहाँ भी सुसंस्कृत मनोरंजन मिला उसे स्वीकार किया।

## कहाँ गई कला फिल्मों की धारा

बहुत से लोगों को इस बात पर आश्चर्य होता है कि इतने गुणग्राही दर्शक वर्ग ने कला फिल्मों की उस धारा को कैसे अस्वीकार

कर दिया जिसमें फिल्म कला को आमूल चूल परिवर्तित कर देने की संभावना परिलक्षित होने लगी थी। इसमें कोई शक नहीं कि 'नेशनल फिल्म डेवलेपमेंट कॉर्पोरेशन' (जिसे शुरू में फिल्म फाइनेंस कॉर्पोरेशन कहा जाता था) द्वारा शुरू किया गया यह प्रयास कि भारतीय सिनेमा को मात्र व्यावसायिक टोटकों के चंगुल से निकाल कर उसके कलात्मक पक्ष को दर्शकों के सामने अधिक उजागर किया जाए, बहुत सराहनीय था। इस विचार ने ही उसे बुद्धिजीवियों के बीच इतना लोकप्रिय बना दिया था कि कला फिल्मों का निर्माण एक आंदोलन ही बन गया। मीडिया ने बार-बार यह चेतावनी दी थी कि एन एफ डी सी की फिल्मों जरूरत से ज्यादा प्रयोग प्रधान हो रही हैं और सहज मनोरंजन के अभाव में दर्शक के इनसे बिदक जाने का डर बढ़ रहा है। इसके बावजूद स्वस्थ सिनेमा के पक्षधर मीडिया ने जिसमें उन दिनों प्रिंट ही प्रमुख था, इन फिल्मों का भरपूर समर्थन ही किया लेकिन वह धारा धीरे-धीरे सूख ही गई।

तथाकथित कला फिल्मों की असफलता के प्रश्न का उत्तर मनोरंजन की उस भूख से जुड़ा है जिसने सैक्स की अतिशय चाशानी अथवा अकेले नायक द्वारा 10-15 गुंडों को मार गिराने जैसे फर्मुलों को अस्वीकार कर दिया था। वह अगर एक पक्ष था तो इसके समानतर चलने का दावा करने वाले उस फिल्म आंदोलन ने मनोरंजन को दरकिनार कर सशक्त विषय को इतने नीरस तरीके से प्रस्तुत करने को ही कला मना जो दर्शक के सिर के ऊपर से निकल जाय। इनमें से कुछ फिल्मों को विदेशों में होने वाले उन फिल्मों में जरूर सराहा गया जहाँ मनोरंजन का कोई महत्व नहीं होता लेकिन भारतीय दर्शकों ने उन्हें लोकप्रियता अथवा सफलता का पुरस्कार देने से इंकार ही कर दिया।

## हवा के रुख में बदलाव

पिछले कुछ सालों से हवा के रुख में जो बदलाव नजर आने लगा है, वह इन्हीं सब अनुभवों का नतीजा है। युवा फिल्मकार स्पष्ट रूप से जान गये हैं कि आज की युवा पीढ़ी अगर मनोरंजन की भूखी है तो मीडिया के विस्तार की बदौलत सिनेमा संबंधी उसकी समझ में भी इतना इजाफा हुआ है कि वह कहानी कहने (नरेशन) के पुराने, उपदेशात्मक फॉर्मट को स्वीकारने वाली नहीं है। उसकी रफ्तार 'जेट', भाषा 'एब्रिविएटेड' और भूषा 'फंकी' है। वह उपदेशों को छोड़ कर दुनिया का कोई भी विषय स्वीकारने को राजी है लेकिन उस पर

कुछ थोपने की कोशिश की तो वह उसे बेरहमी से 'डिस्कार्ड' करने में जरा भी देर नहीं लगाएगी। युवा निर्देशक खुद इसी पीढ़ी के हैं जिनके सामने विश्व सिनेमा की नवीनतम धाराएं और हिन्दी सिनेमा के लिये नित विस्तृत होता जाता अंतरराष्ट्रीय बाजार प्रेरणा स्वरूप मौजूद हैं। 'लगान', 'मुन्नाभाई एम बीबीएस' 'रंग दे बसंती' और हाल की रिलीज 'थ्री ईडियट्स' जैसी तमाम फिल्में दरअसल हषिकेश मुखर्जी और बासु चटर्जी प्रतिपादित उस 'मिडिल ऑफ द रोड' सिनेमा की अगली कड़ी हैं जिनमें कथ्य और मनोरंजन का सुंदर संगम मिलता था, जो कला और व्यवसाय दोनों के अतिरेक के दूर हुआ करती थीं और जिसमें दर्शक की संवेदनशीलता का पूरा सम्मान किया जाता था। हाल की सफल फिल्में आज के युवाओं से उसी मुहावरों में संवाद करके उसके अंदर मंद हो रही उन स्वस्थ भावनाओं को जागृत करने में समर्थ हैं जिनकी जरूरत समाज को सदा बनी रहती है। यही है उनकी लोकप्रियता का राज।

इस परिवर्तन का एक सुखद पहलू कॉर्पोरेट हाउसों का फिल्म निर्माण के प्रति आकर्षण भी है। काले धन के बोलबाले से फिल्म निर्माण को जुआ माना जाने लगा था। प्रभावशाली कथ्य के अभाव को सितारों की मौजूदगी, विदेशी लोकेशंस, उत्तेजक नृत्यों जैसे टोटकों से भरने का परिणाम इस रूप में सामने आया कि कोई टोटका चल गया तो फिल्म चल गई वरना फ्लॉप। सितारों की मनमानी के कारण फिल्म के आकार प्रकार और बजट पर किसी का नियंत्रण न रह जाने से फिल्म की सफलता भी संदिग्ध ही बनी रहती है। इसके बावजूद विदेशी बाजारों में भारतीय फिल्मों की बढ़ती माँग और फिल्म की सफलता के साथ विदेशी मुद्रा में होने वाली अपरिमित आय ने कॉर्पोरेट्स को मनोरंजन उद्योग में अपनी जगह बनाने को प्रेरित किया है। उनका आना इस दृष्टि से स्वागत योग्य है कि कॉर्पोरेट्स का काम करने का तरीका 'बिजनेस लाइक' होता है जबकि फिल्म उद्योग संयोग पर ज्यादा निर्भर रहता आया है जिसमें शोध, विश्लेषण और योजना जैसी व्यवस्थाएं नहीं होतीं।

फिल्मों की सफलता, असफलता तो इसके बावजूद भी होगी ही लेकिन आम दर्शक की मनोरंजन की माँग की लगाम, तुक्के पर चलने वाले व्यवसाय की जगह फिल्मों का स्वर्णयुग कहे जाने वाले युग की तरह सिने कला के मर्मज्ञों के हाथों में आ सकेगी, ऐसी उम्मीद तो बँधती ही है।